Sem. 3, MJ-5

'नाखून क्यों बढ़ते हैं?' की समीक्षा

हिन्दी साहित्य के शलाका पुरुष आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी की प्रसिद्ध रचना 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' ललित निबंध-साहित्य है। विख्यात पण्डित और मौलिक चिन्तक द्विवेदी एक साथ इतिहासकार, समीक्षक, निबंधकार, ललित निबंधकार और उपन्यासकार हैं। प्रस्तुत ललित निबंध में उनका वैदुष्य, ~~चिन्तक~~ चिन्तन, हास्य और व्यंग्य-विनोद की वह बहुविध धारा है जो इसे श्रेष्ठता प्रदान करती है। यहाँ लेखक ने मनुष्य के भीतर की पशुता के बार-बार हावी होने तथा उस पशुता को मनुष्य द्वारा बार-बार पराजित करने की प्रवृत्ति को संकेतित किया है।

प्रस्तुत निबंध का शीर्षक-प्रश्न बाल-जिज्ञासा से उत्पन्न है। अपनी छोटी लड़की की जिज्ञासा का समाधान ढूँढ़ते लेखक का चिन्तन मानता है कि दाँत की भाँति नाखून भी आदिकालीन मानव के भीतरी अस्त्र थे, जिसे प्रकृति द्वारा शत्रुओं-प्रतिद्वंद्वियों से अपनी रक्षा के लिए मिली थी। आदिमानव और पशुओं की काफी समानता थी। आज भी मनुष्य में हर जीव जैसी कई सहजात प्रवृत्तियाँ जीवित हैं – आहार, निद्रा, भय, क्रोध और मैथुन के अतिरिक्त शारीरिक-लक्षण भी हैं, जैसे - दाँत का दुबारा उगना, नाखून-केश का बढ़ना आदि। अपने मस्तिष्क की शक्ति से नाखून रूपी अस्त्र से पत्थर, लकड़ी, हड्डी, धातु आदि के अस्त्रों से मनुष्य शक्तिशाली बनता गया। फिर बारूद, कारतूस, अणु, परमाणु, रसायन आदि को मनुष्य अपने अस्त्र-शस्त्र बनाता गया, शक्तिवान बनता गया और इस तरह उसकी पशुता बढ़ती ही गयी है।

किन्तु द्विवेदीजी यह भी जानते हैं कि मनुष्य अपनी पशुता को परास्त की कोशिश करता आया है – बार-बार नाखून काटता है। लेखक के अनुसार प्राणि-विज्ञानी यह अनुमान भी करते हैं कि पूँछ की तरह एक दिन मानव नाखून से भी मुक्त हो जायेगा। फिर भी नाखून के बढ़ने का संकेत है कि यह सहजात वृत्ति है और ऐसी वृत्तियाँ अनजान की ही स्मृतियाँ हैं, जिसके उदाहरण हमारी भाषा में भी मिलते हैं। अंग्रेजी शब्द ~~इंडिपि~~ 'इंडिपेंडेंस' का शाब्दिक पर्याय हमारे यहाँ 'अनधीनता' न होकर 'स्वाधीनता' है। लेखक के विचार में यह एक शब्द हमारी समूची परंपरा, संस्कृति को ध्वनित करता है। भारतीय संस्कार 'स्व' के बंधन को आसानी से नहीं छोड़ सकता। यह सही है कि 'मरे बच्चे को गोद में दबाए रहनेवाली बंदरिया मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती' अर्थात् परंपरा को जकड़ना प्रगति नहीं, किन्तु सब पुराने अच्छे नहीं होते और सभी नये खराब नहीं होते। भले

लोग तो परंपरा से हटकर वस्तु को ग्रहण करते ही हैं। लेखक ने स्पष्ट कहा है कि भारत में बसी अनेक जातियों - संस्कृतियों का सामान्य आदर्श है — अपने ही बंधन में अपने को बाँधना।

आ० द्विवेदी ने माना है कि मनुष्य नाखून को काटने की जगह सँवारता भी था। वात्स्यायन के 'काम सूत्र' के अनुसार दो हजार वर्ष पहले लोगों द्वारा अनेक आकर्षक आकारों में नाखून को लाल और चिकना बनाया जाता था। किन्तु उसे काटने की प्रवृत्ति तो सभ्यता के विकास के साथ बढ़ती गयी है। लेखक कहते हैं, "मनुष्य की पशुता को जितनी बार भी काट दो, वह मरना नहीं जानती।" मनुष्य पशु से भिन्न है, इसीलिए उसमें संयम, संवेदना, श्रद्धा, तप, त्याग, निर्वैर भाव, सत्य और अक्रोध एवं दानशीलता जैसे 'स्व' के बंधन हैं। ये आत्मनिर्मित बंधन ही मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं और वास्तविक सुख के साधन भी यही बंधन हैं। महात्मा गांधी ने इसीलिए कहा था, "बाहर नहीं, भीतर की ओर देखो।" हमारे भीतर के प्रेम, सत्य को अपनाने की बात उन्होंने कही थी। लेखक को हैरानी होती है कि उस बूढ़े ने कितनी गहराई में पैठकर मनुष्य की वास्तविक चरितार्थता को जाना था।

निबंध के अंत में द्विवेदी जी ने नाखूनों के बढ़ने को मनुष्य की अंधी सहजात वृत्ति का परिणाम है, जिसे वह मारणास्त्रों के संचयन से, बाह्य सुख-साधनों की बहुलता से जीवन में सफल होना चाहता है। किन्तु नाखून को काट देना उस स्व-निर्धारित आत्मबंधन का परिणाम है, जो मनुष्य को उसके स्वधर्म - चरितार्थता की ओर ले जाती है। हिरोशिमा - नागासाकी एवं अन्य विध्वंसक अस्त्रों से पशुता की विजय होती है किन्तु लेखक को विश्वास है कि "नाखून बढ़ते हैं तो बढ़ें, मनुष्य उन्हें बढ़ने नहीं देगा।" निश्चय ही, आ० द्विवेदी का यह निबंध मानवता और भारतीय संस्कारों की महत्ता को प्रमाणित करता है, जिसे ललित शैली में प्रस्तुत किया गया है।